ORIGINAL RESEARCH PAPER

History

KEY WORDS:

दिगम्बर जैनों की श्रावकाचार सम्बन्धी मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन

Dr. Nidhi Jain Assistant Professor, S.S. Jain Subhodh College, Jaipur Rajasthan

Dr. Jubeda Mirza Assosiate Professor, Govt. P.G. College Sikar

जैनधर्म मूल में निवृत्तिप्रधान है क्योंकि मोक्ष का प्रधान कारण निवृत्ति है। किन्तु गृहस्थाश्रम प्रवृत्तिप्रधान होता है, प्रवृत्ति के बिना गृहस्थाश्रम का निर्वाह असंभव है। प्रवृत्ति अच्छी भी होती है और बुरी भी होती है। अच्छी प्रवृत्ति को शुभ और बुरी प्रवृत्ति को अशुभ कहते हैं। प्रवृत्ति के आधार तीन हैं – मन वचन और काय। इन तीनों के द्वारा प्रवृत्ति किये जाने पर जो आत्मा के प्रदेशों में हलन चलन होता है उसे योग कहते हैं। यह योग ही आत्मा में कर्मपुद्गलों को लाने में निमित्त बनता है। जब तक इसका विरोध न किया जाये तब तक जीव नवीन कर्मबन्धन से मुक्त नहीं होता। अतः मुमुक्षु श्रावक सबसे प्रथम अशुभ प्रवृत्ति से विरत होकर शुभप्रवृत्ति का अभ्यासी बनता है। उसका यह अभ्यास ही श्रावकाचार कहलाता है। उसे हो आगम में व्रत कहा है। आचार्य उमास्वामी जी ने तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय के प्रारम्भ में कहा है – 'हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्वृतम्' अर्थात हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरतिका नाम व्रत है। वह व्रत दो प्रकार का है अणुव्रत और महाव्रत। पाँचों पापों का एक देश त्याग अणुव्रत है उसे जो पालता है वह श्रावक होता है। अतः श्रावकधर्म का मूल पाँच अणुव्रत हैं। इसी के साथ मद्य, मांस और मधु के त्याग को मिलाकर श्रावक के आठ मूलगुण प्रसिद्ध हुए। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में प्रथम पांच अणुव्रत का हो वर्णन है। पांच अणुव्रत, तीन गुणवत, चार शिक्षाव्रत – ये श्रावकके बारह व्रत है। प्रथम श्रावक के लिये पाँच अणुव्रतों का पालन आवश्यक है। यही प्राचीन परिपाटी रही है। इनके प्रारम्भ में सम्यग्दर्शन अर्थात सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा – सप्ततत्त्व की श्रद्धा होना आवश्यक है। जब वही श्रावक प्रतिमारूप व्रत ग्रहण करता है तो दर्शन प्रतिमा और व्रतप्रतिमा धारण करता है। दर्शन प्रतिमा में आठ अंगसहित सम्यग्दर्शन और व्रत प्रतिमा निरतिचार बारह व्रत पालता है। किन्तु प्रतिमा रूप व्रत धारण करने से पूर्व साधारण श्रावक बनने की स्थिति में पाँच अणुव्रतों का पालन करता है। यही प्राचीन पद्धति आचार्य कुन्दकुन्द के चारित्र पाहुड तथा आचार्य समन्तभद्र के रलकरण्ड श्रावकाचार से ज्ञात होती है। अतिचारोंका वर्णन साधारण श्रावक के लिये नहीं है व्रत प्रतिमाधारी के लिये है। आचार्य कुन्दकुन्दके चारित्रपाहुड में तो अतीचारों का वर्णन नहीं है । तत्त्वार्थसूत्र में प्रतिमाओं का उल्लेख नहीं है किन्तु रत्नकरण्ड श्रावकाचार में दोनों का अर्थात प्रतिमाओं के स्वरूप एवं उनके अतिचारों का कथन है। डेढ़ सौ श्लोकों में निबद्ध रत्नकरण्ड यथार्थ में रत्नोंका करण्ड है। दिगम्बर परम्परा के श्रावकाचार का वही मूल है। उसे आधार बनाकर उत्तरकालीन श्रावकाचारों का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें किस प्रकार वृद्धि होती गई और श्रावकाचारोंका कलेवर बढ़ता गया।

कालान्तर में जब पांच अणुव्रतों का स्थान पाँच उदुम्बर फलों को दे दिया गया तो एक प्रकार से श्रावकाचार का प्राणान्त जैसा हो गया। पांच अणुव्रतों में धार्मिकता के साथ नैतिकता समाविष्ट है। उनका पालक सच्चा श्रावक होता है। वह धार्मिक होने के साथ अनैतिक नहीं हो सकता उसके व्यवहार में सच्चाई, ईमानदारी होती है किन्तु आज तो धार्मिकता का नैतिकता के साथ विछोह जैसा हो गया है। धार्मिक कहा जाने वाला आज का धर्मात्मा केवल मन्दिर में धर्मात्मा रहता है। उससे बाहर निकल कर उसमें और अधर्मात्मा कहे जाने वाले में कोई अन्तर नहीं है। आज कोरी भगवद्भक्ति ही धर्म के रूप में शेष है, अन्याय, अभय और मिथ्यात्व का त्याग अब आवश्यक नहीं रह गया है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार के पश्चात नम्बर आता है पुरुषार्थसिद्धयुपाय का – यह अध्यात्मी अमृतचन्द्राचार्य की कृति है और इसके ऊपर उनके अध्यात्मकी छाप सुस्पष्ट है। यह प्रारम्भ में जो चर्चा करती हैं वह श्रावकाचार के लिये इसकी अपूर्व देन है। किन्तु इसके उपरान्त जो भी श्रावकाचार लिखे गये उनमें आध्यात्मिकता का पुट शनैः शनैः कम होता गया और व्यवहार धर्म की मात्रा को अधिक स्थान दिया जाने लगा। इससे एक प्रकार से आध्यात्मिकता एवं व्यवहारिकता के बीच के संतुलन में गिरावट आनी शुरू हो गयी। अब श्रावक आत्मधर्म प्रधानी कम और व्यवहार प्रधानी अधिक हो गया। आध्यात्मिकता के वातावरण में क्रियात्मक धर्म की न्यूनाधिक अच्छाईयों – बुराइयों को देखकर भी अनदेखा किया जाता रहा अथवा उनके उन्मूलन के सम्यक प्रयास किया जाते रहे किन्तु जब व्यवहार धर्म प्रधान हो गया तो उन्हीं न्यूनाधिक गुण – दोषों ने जैन जगत में विवाद को जन्म दिया। आज बहुत ही छोटे – छोटे व्यवहारिक धर्मों के आधार पर दिगम्बर जैन जगत में वैमनस्य परिलक्षित होता है। जिसका सिलसिलेवार व्याख्यान अग्रिम पृष्ठों में विभिन्न आयामों के माध्यम से किया गया है।

प्रक्षाल – अभिशेक पर असहमतियाँ

दिगम्बर जैन श्रावक जगत में सर्वप्रथम असहमति इस विषय पर देखने में आ रही है कि भगवान श्री जिनेन्द्र की प्रतिमा का प्रक्षाल किया जाना चाहिए अथवा अभिषेक किया जाना चाहिए? दिगम्बर जैन कांजी आम्नाय समर्थक मनीषियों का विचार है कि भगवान का प्रक्षाल किया जाना चाहिए। यहाँ प्रक्षाल से उनका आशय होता है कि भगवान जिनेन्द्र की प्रतिमाओं के ऊपर जमा हो चुकी अथवा जमा हो रही धूल आदिक के कणों को हटाने के लिए मात्र सूखे कपड़ों से उनको साफ करना चाहिए, न कि गीले कपड़े अथवा जलादिक सामग्री से उनका स्नान करवाना चाहिए। प्रक्षाल की क्रिया के पीछे इनका एकमात्र उद्देश्य भगवत प्रतिमा पर जमा हो रही धूल को हटाना है और कुछ नहीं। जबकि दिगम्बर बीसपंथ एवं तेरहपंथ में प्रक्षाल, अभिषेक, जिनाभिषेक, न्हवन, जिनस्नान, स्नपन, मंजन आदि सभी शब्द जैन श्रावक की उस धार्मिक क्रिया के परिचायक है जिसमें जिनेन्द्र प्रतिमा का जल अथवा अन्य औषधीय रसायनों से विधि पूर्वक इन्द्रप्रतिष्ठा के बाद स्नान करवाया जाता है। इस परम्परा में 'मार्जन' शब्द परिलक्षित होता है जो उस क्रिया का परिचायक है कि अभिषेक के बाद अब जिनेन्द्र प्रतिमा को सूखा किया जाना है।

ध्यातव्य है कि तारणपंथ परम्परा अमूर्तिपूजक है, इनके चैत्यालय में मूर्ति के स्थान पर शास्त्र मात्र विराजमान होते हैं इसीलिए इनके यहाँ अभिषेक अथवा प्रक्षाल का कोई विधान ही नहीं है। अतएव यह लोग उपरोक्त विवाद में किसी भी प्रकार से सम्मिलित नहीं होते हैं।

सर्वप्रथम यह विचार किया जाना आवश्यक है कि काँजी परम्परा ने जिनेन्द्र प्रतिमा पर जमा रजकणों को हटाने के लिए प्रक्षाल शब्द का उपयोग क्यों किया क्योंकि यह प्रक्षाल शब्द उक्त क्रिया का पारिभाषिक विवेचन प्रस्तुत करता हुआ प्रतीत नहीं होता है। प्रक्षाल शब्द का सामान्य अर्थ ही 'धोना' होता है। जैन साहित्य में प्रतिमा जी के अभिषेक के लिए ही इस शब्द का प्रयोग किया गया है। अन्य अर्थ में इस शब्द की यात्रा देखी जाये तो यह शब्द किसी दूसरे शब्द के साथ भी 'धोने' के अर्थ में ही प्रयोग किया गया है। यथा – जैन मुनि की नवधा भक्ति में सम्मिलित एक भक्ति, पाद–प्रक्षालन है। यहाँ पर भी इसका अर्थ होता है कि उच्चासीन मुनिजनों के चरण को जलादिक से धोना। इसलिए इस परम्परा में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि उन्होंने 'साफ करने या पोंछने' के अर्थ में इस शब्द का उपयोग क्यों किया है।

'भगवान जिनेन्द्र की प्रतिमाओं को सूखे कपड़े से साफ करना चाहिए न कि उनका अभिषेक किया जाना चाहिए' – इस प्रकार की अवधारणा को विकसित करने के पीछे इनका तर्क होता है कि केवलज्ञान प्राप्त जिनेन्द्र का कभी भी अभिषेक नहीं होता है और जिन बालक जिनेन्द्र का अभिषेक इन्द्रों द्वारा किया जाता है वह वस्तुतः जन्माभिषेक होता है न कि जिनाभिषेक। भगवान जिनेन्द्र की प्रतिमा केवलज्ञानी जिनेन्द्र की प्रतिमूर्ति है, परिचायक है अथवा उसका भी अभिषेक नहीं किया जाना चाहिए, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार साक्षात भगवान जिनेन्द्र का अभिषेक नहीं होता है। अतः श्रावकों को चाहिए के वे बस धूल, मिट्टी आदि के लग जाने पर उसे हटाने के लिए सूखे कपड़े से साफ कर दें।

सन्दर्भ ग्रन्थसूची

1. डॉ. शिवप्रसाद जैन श्वेताम्बर गच्छों का संक्षिप्त इतिहास (भाग एक) प्रस्तावना प्र. आचार्य ओंकारसूरि ज्ञानमंदिर, सूरत 2008
2. सुरेश सिसोदिया जैन धर्म के सम्प्रदाय पृष्ठ 92 प्र. आगम–अहिंसा–समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर (राज.) 1994
3. कैलाशचंद्र जैन जैन धर्म पृष्ठ 315 प्र. भारतीय दिगम्बर जैन संघ पुस्तकमाला, मथुरा 1966
4. हस्तीमल जैन धर्म का मौलिक इतिहास (भाग चार) पृष्ठ 703 – 712 प्र. सम्यकज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर 2001